



भाषिक- विमर्श

भाषा और संस्कृति का सौन्दर्य: चिंतन और विश्लेषण

डॉ. प्रवीण कुमार

pravinkmr05@gmail.com

भाषा और संस्कृति का संबंध अन्योन्य का है। दोनों एक दूसरे से प्रभावित हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। भाषा का उदय प्राणियों के बीच संपर्क और व्यवस्थित जीवन के निहितार्थ हुआ। जिस तरह मानव की सभ्यता-संस्कृति का विकास होता गया उसी तरह भाषा का विकास होता रहा है। सामाजिक विकास में ही भाषा का विकास होता रहा है और वह सभ्यता-संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती रही है। जिस तरह समाज के सभी संगठनों का विकास हुआ वैसे ही संगठनों के विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का भी विस्तार होता रहा है। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम होने के साथ-साथ सभ्यता-संस्कृति का अभिन्न अंग है और उसका वाहक भी। भिन्न-भिन्न समाज में भाषा के विभिन्न स्वरूप हैं लेकिन कभी भी भाषा की कल्पना समाज से अलग नहीं है। समाज की विभिन्न अवस्थाओं में भाषा का स्वरूप और उसका सौन्दर्य अलग-अलग रहा है। सामाजिक संदर्भ से अलग करना ही भाषा की सजीवता और उसकी संजिदगी को नष्ट कर देना है। सजीवता

नष्ट होते ही वह कृत्रिम आवरण ओढ़ लेती है जिसे साहित्य में रूपवाद के नाम से जाना जाता है। इसलिए रामविलास शर्मा लिखते हैं कि "सामाजिक विकास संदर्भ में भाषा को अलग हटाकर उसका विवेचन करना एक तरह का रूपवाद है जहां रूप को विषयवस्तु से अलग कर दिया जाता है। इस रूपवाद को प्रश्रय देने वाले चाहे भौतिकवादी हों, चाहे भाववादी, है वह रूपवाद।" अर्थात् साहित्य में केवल विषय-वस्तु से अलग की गई व्याख्या रूपवाद है। वह साहित्य में केवल भाषा की संरचना पर बल देता है। रूपवादी आलोचना यह भूल जाती है कि भाषा का भी सामाजिक संदर्भ है और "भाषा का संबंध समाज से है, उसका विकास सामाजिक संपर्क के एक साधन के रूप में होता है, तो स्पष्ट है कि समाज का अध्ययन किये बिना सामाजिक संपर्क स्थापित करने के साधन का अध्ययन भी नहीं हो सकता। समाज एक गतिशील प्रक्रिया है। उसमें वर्ग हैं, वर्ग संघर्ष है, व्यक्तिगत संपत्ति है, शोषण है और शोषण के विरुद्ध (जनता का संघर्ष है, भाषा के प्रति विभिन्न वर्गों के अपने दृष्टिकोण





हैं, कभी-कभी संपत्तिशाली वर्गों की नीति के पफलस्वरूप समूची भाषाएं नेस्तनाबूद हो जाती हैं और छोटे-छोटे द्वीपों की भाषाएं विश्वभाषा बन जाती हैं।² अर्थात् भाषा समाज और समय संबद्ध है। समाज के विकास के साथ ही भाषा के विकास का अध्ययन सर्वोत्तम है। इसी क्रम में भाषा समाज की संस्कृति का एक अंग बनती है और संस्कृति का वाहक भी। वह संस्कृति का अंग है। उसके विकास का अध्ययन उसे संस्कृति का अंग मानकर ही किया जा सकता है। सामाजिक विकास बाह्य अंतर्विरोध से परस्पर मिलकर ही किया जा सकता है। भाषा के रूप और उसकी विषयवस्तु पर इनका प्रभाव पड़ता है। इसलिए रामविलास शर्मा लिखते हैं कि “भाषा का अध्ययन उसकी ध्वनि प्रकृति, भाव प्रकृति और मूलशब्द भंडार की दृष्टि में रखकर करना चाहिए। आदिम साम्यवादी व्यवस्था से लेकर आधुनिक जातियों के निर्माण तक समाज के गठन में, उसके ढांचे में, वर्गों के परस्पर संबंधों में, अन्य समाजों से संघर्ष या हेलेमेल में जो परिवर्तन हुए हैं, वे सब भाषा में प्रतिबिंबित होते हैं और उसका विकास निर्धारित करते हैं।³ अर्थात् सामाजिक विकास जिस बाह्य-आंतरिक अंतर्विरोधों का प्रतिफलन होता है भाषा में समाज का वह विकास प्रतिबिंबित होता रहता है। समाज का विकास उसकी आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन पर मूलतः निर्भर करता है। आर्थिक विकास समाज की संस्कृति और उसकी भाषा को बहुत ज्यादा प्रभावित नहीं करता है

लेकिन समाज की संस्कृति में आए बदलाव मनुष्य के चिंतन और विचारों को इस कदर परिवर्तित करते हैं कि वह सदा-सदा के लिए परिवर्तित हो जाते हैं। और वह ज्यादा प्रभावशाली होता है। भाषा इस सांस्कृतिक परिवर्तन से पूर्णतः इतपफाक रखती है क्योंकि “समाज की प्रत्येक अवस्था में भाषा उसकी संस्कृति को प्रतिबिंबित करती है। संस्कृति में परिवर्तन के साथ भाषा में भी परिवर्तन होता है क्योंकि वह संस्कृति का अंग है। भाषा के कुछ तत्व बदलते हैं, उसमें आमूल परिवर्तन नहीं होता, जैसा संस्कृति के भी कुछ ही तत्व बदलते हैं, उसमें आमूल परिवर्तन नहीं होता। भाषा किस स्तर की संस्कृति को प्रतिबिंबित करती है, यह उसके बोलने वालों की समाज व्यवस्था पर निर्भर होता है।⁴ स्पष्टतः देखा जा सकता है कि भाषा में परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन है और वह समाज में उसके बोलने वालों पर निर्भर करता है। यदि समाज के किसी समुदाय या वर्ग की सामाजिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं है तो इसका प्रभाव उसकी भाषा पर भी पड़ता है। ऐसी स्थिति में समाज के विकास का प्रतिफलन भाषा और संस्कृति के विकास के साथ देखा जा सकता है। यह परिवर्तन स्पष्ट करता है कि मनुष्य का मानसिक विकास जो कि उसके सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर निर्भर करता है, के साथ ही उसकी चेतना और उसकी भाषा का विकास भी होता है। उसके पास भाषिक शब्दों का भंडार बढ़ता जाता है। दूसरे शब्दों में कहा





जा सकता है कि ज्ञानबोध के साथ ही समाज का विकास भाषा और संस्कृति के स्तर पर होता है। रामविलास शर्मा के अनुसार “भाषा का अर्थ बोध निरंतर बढ़ता रहता है क्योंकि मनुष्य का ज्ञान क्षेत्रा विस्तृत होता जाता है, उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकताएं बदलती और बढ़ती है।”⁵ मनुष्य की सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकता के साथ ही उसके विकास की रूपरेखा बंधी रहती है। जिस समाज का विकास सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर नहीं होता है या किसी समुदाय या वर्ग को सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर वंचित या बहिष्कृत कर दिया जाता है वह समाज या समुदाय मानसिक स्तर पर ही नहीं सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर भी और साथ ही भाषा के स्तर पर अविकसित हो जाता है। “किसी जाति को दबा कर रखा जाय, उसे सामाजिक प्रगति का मौका न दिया जाय, तो इसका प्रभाव भाषा पर अवश्य पड़ेगा। सामाजिक दमन और बाधों का विरोध करते हुए प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कोई जाति अपनी भाषा का विकास कर ले, यह बात दूसरी है।”⁶ इस तथ्य के अवलोकन से यह बात स्पष्ट है कि देश में दलित समाज की स्थिति कैसी हो सकती है? क्योंकि समाज में किसी खास वर्ग या समुदाय को दलित बनाने में वर्चस्वशाली समुदाय ने उस समाज या समुदाय को सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर इस कदर वंचित कर दिया या उसे बहिष्कृत कर उस पर कठोर कानून की पाबंदी लगा दी कि उस

समुदाय या समाज का विकास वर्षों तक बाधित रहा है। भारत में प्राचीन काल में हुए संघर्ष में विजित समुदाय द्वारा पराजित समुदाय को न केवल गुलाम बनाया गया बल्कि उसे सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक एवं राजनीतिक तौर पर वंचित कर उसे समाज में मानवीय मूल्यों से वंचित रखा गया है। यही गुलाम समुदाय वर्तमान में दलित समाज है। जिसकी अपनी संस्कृति और भाषा रही है और आज वह विकसित स्थिति में है। दलित साहित्य और उसकी भाषा उसकी चेतना के विकसित स्वरूप की देन है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जब मनुष्य चेतनशील हो जाता है और सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर अपना विकास करने लगता है तभी वह सृजनात्मक कार्य करता है। साहित्य और कला इसी सृजनात्मक कार्य की उपज है जो उसकी श्रमशीलता एवं जीवन-संघर्ष के जीवनानुभव में प्रतिफलित हुआ है।

भाषा का अस्तित्व एवं स्वरूप जीवनानुभव, संस्कृति और संवेदना से ही बनता है। समाज में भाषा के दो रूप हमेशा से विद्यमान रहे हैं—एक संप्रेषण का और दूसरा संस्कृति का। ‘संप्रेषण के रूप में भाषा यथार्थ जीवन का निरूपण, बोलने की क्रिया और लिखित चिह्न का होता है। मानव समुदाय के बीच संप्रेषण संस्कृति के विकास की प्रक्रिया और उसका आधार भी है। संस्कृति में वे सभी नैतिक और सौन्दर्यबोधक मूल्य





समाहित होते हैं जिसके जरिए विश्व में हम अपने स्थान को निर्दिष्ट करते हैं। वह जन समुदाय की अस्मिता और मानव का सदस्य होने के विशिष्ट बोध का आधार मूल्य भी है और इन सारे मूल्यों के वाहक का काम भाषा करती है। एक संस्कृति के रूप में भाषा इतिहास में जनता के अनुभवों की सामूहिक स्मृति भंडार है। संस्कृति उस भाषा से लगभग पूरी तरह अविभेद्य है जो उसकी उत्पत्ति, निर्माण, विकास, अभिव्यक्ति और यथार्थ में एक पीढ़ी के सम्प्रेषण का काम करती है। संस्कृति इतिहास का एक उत्पाद है और साथ ही इतिहास को व्यक्त करने का माध्यम भी। व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से एक जनसमूह के रूप में अपने होने की हमारी समूची अवधारणा उन बिम्बों और प्रतीकों पर आधारित है जो प्रकृति के साथ हमारे वास्तविक संबंधों के एकदम अनुरूप भी हो सकती है और नहीं भी हो सकती है। इस प्रकार संस्कृति के रूप में भाषा मेरे और मेरे 'स्व' के बीच एक मध्यस्थ का काम करती है। मेरे और दूसरे के बीच मेरे और प्रकृति के बीच भी उसकी यही भूमिका है। और यही बात हमें संस्कृति के रूप भाषा के तीसरे पहलू के करीब ले जाती है। यानी सम्प्रेषण के लिखित रूप साहित्य को लाता है। ... "भाषा संस्कृति की वाहक है और संस्कृति अपने मौखिक और लिखित साहित्य के जरिए मूल्यों के उस समूचे पुंज को लेकर चलती है जिसके जरिए हम स्वयं से साक्षात्कार करते हैं और विश्व में अपनी स्थिति का अहसास करते हैं।" भाषा जब

संस्कृति के तौर पर व्यक्ति और उसके स्व के बीच काम करती है तब वह पूर्णतः व्यक्ति की चेतना को ही रेखांकित करती है। यह स्थिति व्यक्ति व प्रकृति या समाज के बीच चलती रहती है। कहा जा सकता है कि मनुष्य में चेतना का बोध ही उसे सामाजिक स्तर पर प्रतिस्थापित करता है। स्थिति का अहसास ही अस्तित्वबोध का भान कराता है। जिससे स्वयं की खोज की प्रक्रिया शुरू होती है। चेतना से ही अस्तित्वबोध, अस्मिता का बोध और आत्मलोचन आदि की प्रक्रिया शुरू होती है। इसी से व्यक्तित्व व समाज में उसकी हैसियत का बोध होता है। यही बोध व्यक्तिगत और समाजगत विकास का द्योतक होता है। भाषा व संस्कृति का विकास भी इसी प्रक्रिया के बीच होता है। इसलिए जब भाषा को किसी अन्य समुदाय या वर्ग की भाषिक संरचना की कसौटी पर कसने का काम किया जाता है तब वह उस भाषा को बंधन में बांधने का काम किया जाता है। वह एक प्रकार की गुलामी की अवस्था होती है। उसे सामाजिक संदर्भ व सरोकार से काटने का प्रयास किया जाता रहता है। इसलिए रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव लिखते हैं कि "भाषा को व्याकरणिक व्यवस्था अथवा अभिव्यक्ति का माध्यम बताकर वस्तुतः हम न केवल उचित संदर्भ से काट कर उसे देखना परखना चाहते हैं बल्कि भाषा की उस सामाजिक शक्ति से भी आंख बंद कर लेना चाहते हैं जो किसी एक समुदाय के सभी व्यक्तियों की भावना चिंतन और





जीवन दृष्टि के धरातल पर एक दूसरे से नजदीक लाती है।⁸ अर्थात् भाषा को किसी शास्त्रीय या व्याकरणिक व्यवस्था में ढालना उसकी शक्ति को कुंद करना है। उसकी संवेदना और तीव्रता-तीक्ष्णता को कमजोर करना है। भाषा-समुदाय के चिंतन और दृष्टि को नजर अंदाज किया जाना है। इसलिए यह समझना गलत नहीं होगा कि जब दलित साहित्य को भारतीय समाज के तथाकथित बु(जीवियों द्वारा नकार दिया गया तो वह मुख्यतः दलित समाज के चिंतन और उनकी दृष्टि को नकारने का प्रयास था, भाषा की कलात्मकता महज एक छलावा था। भाषा न सिर्फ अभिव्यक्ति का माध्यम है न ही मात्रा वह व्याकरण है न ही वह केवल विशिष्ट शब्दों की संरचना, सजावट है बल्कि वह एक सामाजिक संस्था, सांस्कृतिक प्रतीक और साहित्य की जातीय परंपरा भी है। हिन्दी भाषा भी ऐसी ही भाषा है। रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के शब्दों में “हिन्दी मात्रा व्याकरण नहीं और न ही वह केवल विशिष्ट भाषिक संरचना है भाषा के रूप में वह एक सामाजिक संस्था भी है संस्कृति के रूप में भाषायी प्रतीक भी है और साहित्य के रूप में वह एक जातीय परंपरा भी है।⁹ हिन्दी भाषा एक सामाजिक संस्था है अर्थात् जब समाज में संस्था का विकास हो रहा था तब संस्था अपनी विचारधरा एवं संस्कृति की अभिव्यक्ति के लिए हिन्दी भाषा का प्रयोग करती थी और आज भी कर रही है। सांस्कृतिक भावों

का वहन भी हिन्दी भाषा कर रही है तथा साहित्य के निर्माण व विकास के स्वरूप में वह जातीय परंपरा का निर्माण करता है। हिन्दी भाषा बोलियों का समुच्चय है और सभी बोलियों का स्वतंत्र अस्तित्व भी है, हिन्दी भाषा की जातीय परंपरा की तरह। ‘भाषा बोली भेद का आधार वह भाषायी चेतना है जिसकी प्रकृति संस्थागत है।’ “बहुभाषा भाषी देश की संप्रेषण व्यवस्था अनिवार्यतः संपर्क भाषा अर्थात् वृहतर आयाम पर लिंगुआ प्रफेंका को जन्म देती है। राष्ट्रीय संदर्भ में कभी इसका रूप राजभाषा को जन्म देता है और कभी राष्ट्रभाषा को। राजभाषा का संबंध राष्ट्रवादिता ;नेशनलिज्म से रहता है, वह राष्ट्र को राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से एक सूत्राता में बांधने के काम में आनेवाली प्रशासनिक प्रयोजनों की भाषा होती है। इसके लिए जरूरी नहीं कि वह भाषा अपने देश की हो। राष्ट्रभाषा का संबंध राष्ट्रीयता ;नेशनलिज्म से रहता है, उसके पीछे जातीय प्रामाणिकता और ग्रेट ट्रेडिशन की शक्ति काम करती है और उसके सहारे समाज राष्ट्र के स्तर पर समाज और संस्कृति के संदर्भ में तादात्म्य स्थापित करता है और अपनी सामाजिक अस्मिता सि(करता है।” ...“जब कोई भाषा लिंगुआ प्रफेंका के रूप में उभरती है तब राष्ट्रीयता या राष्ट्रवादिता से प्रेरित होकर वह ‘डॉमिनेंट’ भाषा बन जाती है, जिसे प्रभुता की भाषा भी कहा जा सकता है। अपनी प्रकृति में स्थिर होकर यह परिनिष्ठित बनती है।” ... “सबसे बड़ी विशेषता





इसकी यह है कि इसके मातृभाषी, अन्य किसी भाषा के सीखने की ओर प्रेरित नहीं होते। यह कहा जा सकता है कि भारत के आधुनिक युग में कदम रखने के पहले यहां बहुभाषिकता थी, प्रमुख ;राष्ट्रीयद्ध भाषाएं भी विकसित हुईं पर उनमें कोई भी इस संदर्भ में 'डॉमिनेंट' भाषा के रूप में नहीं उभरी।¹⁰ इससे स्पष्ट होता है कि भारत में भाषा सिपर्फ भाषीय चेतना के स्तर पर भिन्न है। वह राष्ट्रवादिता के तौर पर नहीं है और राष्ट्रियता को प्राप्त किए हुए है जिसमें हमारी सभ्यता-संस्कृति है। हमारी सामाजिक अस्मिता सि(होती रही है लेकिन लिंगुआ प्रफेंका के रूप में नहीं उभरी है। जिसकी प्रकृति 'डॉमिनेंट' की होती है। हिन्दी राष्ट्रियता की भाषा है उसमें सभी वर्ग समुदाय की संवेदना, जीवनानुभव और उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता झलकती है जिसे कभी भी किसी कलात्मकता या भाषिक संरचना के आधार पर नहीं रोका जा सकता है।

भाषा की प्रकृति जीवन से जुड़ी होती है और व्यक्ति जब भी कहीं जाता है तब वह उस भाषा या संस्कृति को साथ ले जाता है। यह उसके जीवन की गतिशीलता होती है। "किसी भी भाषावर्ग के व्यक्ति जब अपने क्षेत्र से बाहर जाकर बसते हैं वे सामान्यतः अपनी भाषा, संस्कृति या आचार-विचार को अपने जीवन से किसी-न -किसी स्तर पर बाँधे रखते हैं और उनकी इस प्रवृत्ति को सामाजिक संस्थाएं

,इंस्टिट्यूशनद्ध बल ही देती हैं।"¹¹ अर्थात भाषा संस्थागत रूप की गति पाकर समाज की संस्कृति का वहन करती है। उसकी यह प्रकृति न केवल व्यवहार में व्यक्त होती है बल्कि साहित्य की सर्जना में वह सबसे ज्यादा प्रामाणिक तौर पर जगह पाती है। "हर भाषा की अपनी साहित्यिक शैली और बोलचाल का रूप होता है भाषायी अस्मिता के लिए भाषा भेद को तो गांव निभाता आया है पर भाषायी कोश में कोड परिवर्तन की निरंतर आवश्यकता ने अर्थ, व्याकरण और ध्वनि के स्तर पर इन भाषाओं को इस प्रकार समान बना दिया है कि उनमें शब्द प्रति शब्द और रूपिम प्रति रूपिम अनुवाद परकता देखी जा सकती है।...भाषायी कोश में कम्पाउंड द्विभाषिकता अनिवार्यतः है। भाषाओं की आंतरिक व्यवस्था के बीच की समानता का सीध संबंध पारिवारिक एकता से संब(न होकर दो भाषाओं को बोलनेवालों के बीच के संपर्क के अनुपात के साथ होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस अनुपात अथवा समानता के साथ दो भाषायी समाज अपनी आंतरिक संप्रेषण व्यवस्था में एक-दूसरे के नजदीक आएंगें, उसी अनुपात में भाषाओं की आपसी समानता का अंश भी बढ़ाया जाएगा। यही कारण है कि भाषायी संपर्क की स्थिति सामान्यतः बोलचाल की शैली में सबसे ज्यादा होती है। भाषायी समानता का जो रूप भाषाओं के सामान्य स्तर पर मिलता है, वह उनकी साहित्यिक शैली के स्तर पर नहीं





मिलता।¹² अतः कहा जा सकता है कि जब साहित्यिक कर्म जन-बोलचाल की भाषा में किया जाता है तब उसमें संवेदना और सरोकार दोनों की समानता समान रूप से होती है। इसी में रचना की सामाजिकता की भी परख की जा सकती है!

भाषा और संस्कृति का सौन्दर्य मुख्यतः भाषा की सामाजिकता पर निर्भर करता है। और भाषा की सामाजिकता समाजभाषा विज्ञान में भाषा के सामाजिक और सांस्कृतिक प्रकार्य से जुड़ी हुई होती है। इस अर्थ में भाषा और संस्कृति का सौन्दर्य समाज में मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति से जुड़ जाता है। इस संदर्भ में सामाजिक संरचना का अध्ययन अपेक्षित होता है। “भाषा का समाजशास्त्रा, मूलतः इस लक्ष्य और उद्देश्य को साधता है कि भाषा अध्ययन के माध्यम से हम सामाजिक संरचना की तहों तक पहुंच सकें तथा भाषायी लक्षणों के माध्यम से सामाजिक संगठन के लक्षणों की परख कर सकें।¹³ समाज संदर्भित भाषा अध्ययन भाषा को संप्रेषण व्यवस्था का एक अन्यतम साधन मानता है। इस दृष्टि से दलित साहित्य जब समाजशास्त्रीय की अपेक्षा करता है तब यह बात सापफ हो जाती है कि दलित साहित्य की भाषा संप्रेषण का एक माध्यम ही है। समाज संदर्भित भाषा-अध्ययन की दृष्टि मूलतः वक्ता और श्रोता के आपसी सामाजिक संबंधों पर केन्द्रित रहती है। इसलिए वह यह मानता है कि

वक्ता और श्रोता के परस्पर सामाजिक संबंध भाषा प्रयोग में भिन्नता ला सकते हैं।

दलित साहित्य में भाषा सिर्फ अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है, वह कथ्य भी है, जिसका एक सामाजिक संदर्भ है। “भाषा का समाजशास्त्रा, भाषा के उन प्रश्नों को अध्ययन का लक्ष्य बनाता है जिनका संबंध समाज एवं उसके संस्थान से रहता है। यह बात ध्यान देने की है कि भाषा केवल विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं होती, वह स्वयं में वह कथ्य भी है जो सामाजिक अस्मिता और द्वेष का कारण बनता है, सामाजिक पद के सूचक के रूप में काम करता है और अन्य सामाजिक वर्गों के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों को व्यक्त करता है। भाषा का समाजशास्त्रा इन सभी पक्षों का अध्ययन करता है।¹⁴ वहीं समाजोन्मुख भाषाविज्ञान के अनुसार भाषा एक सामाजिक प्रतीक है। “वह भाषा और समाज की संकल्पना को एक-दूसरे के घात-प्रतिघात के रूप में देखता है और वह मानता है कि भाषाभेद और भाषाविकल्पन का आधार सामाजिक प्रकार्य होता है। भाषा स्वयं में एक सामाजिक वस्तु है। उसकी मूल प्रकृति में ही सामाजिक तत्व अंतर्भुक्त रहते हैं, यही तत्व भाषा को विषमरूपी और विकल्पवत् बनाते हैं। भाषा व्यवहार में प्राप्त इन विकल्पनों का अध्ययन न केवल भाषा और समाज के अंतस्संबंधों की ओर संकेत करता है, अपितु भाषा की वास्तविक प्रकृति का उद्घाटन भी करता





है।¹⁵ इससे यह स्पष्ट होता है कि भाषा का समाजशास्त्रा उसकी अस्मिता, उसके सामाजिक संबंधों और उसकी सामाजिक हैसियत का अध्ययन करता है और भाषा एक कथ्य है की अभिव्यंजना करता है। वह एक सामाजिक वस्तु नहीं है कि उसे वितरित किया जा सके बल्कि वह अर्जित है। जिसमें विविधता होती है और इसी विविधता में भाषा और समाज के अंतःसंबंधों की पहचान होती है। दलित आंदोलन और चिंतन में साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन व अध्ययन पर बल दिया जाता है तो इसका कारण उपरोक्त तत्व है।

दलित साहित्य के संदर्भ में भाषा का प्रश्न न केवल बेबुनियाद है बल्कि दलित चिंतन के विकास को रोकने का प्रयास है। उसकी उभरती शक्ति व संस्कृति की चेतना को कुंद करने का प्रयास है। किसी भी समाज की कला और साहित्य के संदर्भ में भाषा का सवाल उठाना ही एक प्रकार का ब्राह्मनिज्म है। क्योंकि “भाषाओं का विकास समान रूप से नहीं होता, जैसे जातियों का विकास समान रूप से नहीं होता। देशकाल की परिस्थितियों और अपने ऐतिहासिक जीवन के विकासक्रम के अनुसार जिसमें सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियां भी शामिल हैं, जातियां विकास करती हैं और मनुष्य की भाषाएं इस विकास क्रम को प्रतिबिंबित करती हैं। अर्थात् भाषाओं के इतिहास के आधार पर उनको बोलने वाली जातियों के

सांस्कृतिक विकास का सही अनुमान लगाया जा सकता है। इसलिए यह कहना मूर्खतापूर्ण है कि अमुक भाषा में अभिव्यंजना शक्ति की कमी है और अमुक में अभिव्यंजना शक्ति अधिक है। अधिक से अधिक कोई भाषा तत्काल पिछड़ी हो सकती है, अर्थात् अपने बोलने वालों के सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण आधुनिक विज्ञान और औद्योगिक समाज की विशिष्ट क्रियाओं, विचारधाराओं, भावनाओं या वस्तुओं को व्यक्त करने में अक्षम हो, लेकिन चिरकाल तक उसकी अभिव्यंजना शक्ति सीमित ही बनी रहेगी, ऐसा कहने का अर्थ हुआ कि उसे बोलने वाली जाति कभी विकास ही नहीं करेगी। इसलिए मानवशास्त्रा जिस तरह मनुष्य जातियों में श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ या ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं मानता उसी तरह भाषा शास्त्रा भी इस तरह के भेदभाव को स्वीकार नहीं करता। कोई भाषा किसी से हेठी नहीं है, किसी भाषा में सूक्ष्मतर अभिव्यंजना की निसर्ग शक्ति नहीं होती। मनुष्य के कर्ममय जीवन, पारस्परिक सहयोग, विचारों के आदान-प्रदान और सांस्कृतिक विकास के साथ ही भाषा में अनिवार्यतः अभिव्यंजना शक्ति का भी विकास होता जाता है।¹⁶ इससे स्पष्ट होता है कि जीवन-संघर्ष और श्रम सौन्दर्य के बीच ही मनुष्य के विचारों और उसकी मानवीय संस्कृति का सौन्दर्य निर्मित होता है और भाषा का सौन्दर्य भी इसी सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन सौन्दर्य के बीच निर्मित होता है।





भाषा और संस्कृति के सौन्दर्य में किसी भी का प्रकार विभेद नहीं है। जैसी संस्कृति वैसी ही भाषा बनती है लेकिन इसके बावजूद सामाजिक परिस्थितियां और स्थितियां दोनों को निर्धारित करती रहती है। भाषा का स्त्रीलिंग-पुलिंग विभाजन भी प्रकृति प्रदत्त नहीं है बल्कि सामाजिक हैसियत के बीच निर्मित किया गया है। स्त्री-पुरुष के संबंध को लेकर भाषा का सौन्दर्य कभी नहीं बदला है। 'भाषा संवेदना का कोई आमूलचूल परिवर्तन नहीं हुआ है। हमारे दैनिक जीवन में परिवर्तन भाषा की जातीय प्रकृति का या शब्द संस्कृति का होता है, न कि आदिम भाषा संवेदना का।'¹⁷ भाषा संवेदना त्रिकोणात्मक होती है 1. वक्ता का विश्वास, 2 वक्ता की करुणा और 3 वक्ता की तर्क बुद्धि। इन्ही तत्वों के आधार पर वक्ता शब्दों का चयन करता है। भाषा संवेदना व्यष्टि-समष्टि का उभयपक्षीय आदान-प्रदान है। इसके मुख्य बिन्दु हैं : सहजता, मितव्ययता, चित्रात्मकता, तारतम्य, सार्थकता आदि। यह संवेदना पंच ज्ञानेन्द्रियगम्य है, इसलिए भाषा संवेदना को ऐन्द्रिय संवेदनाओं के परिपार्श्व में ही विध्वित् समझा जा सकता है। भाषा संवेदना की विशेषताएं ही उसे साहित्य या संप्रेषण के योग्य बनाती हैं। भाषा की प्रकृति, तीव्रता, सत्ताकाल, स्पष्टता, क्षेत्रा विस्तार उसकी विशेषता है।

बहुभाषी और बहुल संस्कृति वाले समाज में सबकी भाषा और संस्कृति अलग-अलग होती है। इसके बावजूद उसमें एक सूत्राता है अर्थात् सभी संस्कृति और सभी भाषाओं की संवेदना में एकसूत्राता की स्थिति है। संस्कृतियों का एक दूसरे से अलग रहना नियति है और उसमें प्रतिरोध की अपार क्षमता होती है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में सब कुछ का एकीकरण संभव हो सकता है। एक तरपफ पूंजीवादी व्यवस्था का बाजारवाद की संस्कृति का एकीकरण होगा तो दूसरी तरपफ प्रतिरोध की संस्कृति का भी एकीकरण होगा। "संस्कृतियों के अपने विशिष्ट संदर्भ हैं: संजातीय समूह, भाषाई समूह, धर्मिक संघ, प्रादेशिक सीमाएं और आधुनिक राष्ट्र भी। यह भी सच है कि संस्कृतियों में प्रतिरोध की अपार क्षमता होती है। पिफर भी शु(और शाश्वत रूप से स्थायी संस्कृति का विचार यथार्थ कम और मिथक ज्यादा है। सांस्कृतिक सीमाएं लौह प्राचीर नहीं होती हैं। बल्कि संस्कृतियां प्रायः एक दूसरे से मिलती हैं, एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और संजातीय /भाषाई/ भौगोलिक सीमाओं को लांघकर घुलमिल जाती हैं।"¹⁸ दरअसल जब संस्कृतियां मिलती हैं और एक दूसरे को प्रभावित करती हैं तो इसमें राजनीतिक सत्ता की संभावनाएं बढ़ जाती है। राजनीतिक सत्ता की शक्ति में वर्चस्व और शक्ति प्रदर्शन की संभावनाएं हमेशा से रहती है। इसलिए अभिजीत पाठक लिखते हैं कि "राजनीति भी होती है।





क्योंकि हो सकता है, संस्कृतियों में धन और राजनीतिक सत्ता के असमान वितरण से उत्पन्न असमान संसाधन हों और परिणामी अन्योन्यक्रिया, विजय, वर्चस्व, दमन और प्रभावहीन बनाए जाने की स्थिति द्वारा परिभाषित हों।¹⁹ इस प्रक्रिया में भाषा की भूमिका दोहरी हो सकती है। क्योंकि राजनीतिक शक्ति जब संस्कृति के प्रतीकों को वोट बैंक में तब्दील करती है तब यह भाषा की दोहरी भूमिका को ही इस्तेमाल करती है। यहीं पर आकर भाषा और संस्कृति का सौन्दर्य सामाजिक-सांस्कृतिक सौन्दर्य से अलग राजनीतिक संदर्भ में राजनीति शक्ति से संचालित होने लगती है। और यह एक जटिल प्रक्रिया है। क्योंकि “संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान एक जटिल परिघटना है। पहली यह दर्शाती है कि संस्कृतियां, यद्यपि विशिष्ट जातीय-राष्ट्रीय संदर्भ में अवस्थित होती हैं, प्रायः क्षेत्रीय/राष्ट्रीय सीमाओं को समाप्त कर देती हैं। प्रतिरोध की क्षमता के बावजूद संस्कृतियां लचीली, गतिशील और इसलिए जीवंत साबित हो सकती हैं। दूसरी जैसा कि इतिहास संकेत देता है कि संस्कृतियों के बीच अन्योन्यक्रिया एक सी नहीं हो सकती है। इसके बजाए यह वर्चस्व और दमन द्वारा परिभाषित हो सकती है: जैसे पश्चिम पूरब पर हावी होना चाहता हो या हिन्दू आदिवासियों को अपने धर्म में शामिल करना चाहते हों। तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि संस्कृति प्रतिरोध और सृजनात्मक प्रयोग का भी स्थल है। जहां

एक ओर यह प्रभुत्व का प्रतिरोध करने के लिए खुद को दृढ़तापूर्वक व्यक्त करना और अभिनव परिवर्तन करना चाहती है और अपनी खासियत और स्वायतता बनाए रखना चाहती है, वहीं यह संवाद के लिए स्थान भी विकसित करती है और क्षितिजों को मिलाने का प्रयास भी करती है। दूसरे शब्दों में कोई जरूरी नहीं है कि संस्कृतियां एक दूसरे के विरुद्ध हों। संस्कृतियां विलय की कोशिश कर सकती हैं और हम एक साक्षा, खुली और समावेशी संस्कृति की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं।²⁰ अर्थात् भाषा और संस्कृति की एकसूत्रता की संवेदना के सौन्दर्य में एक संवाद की व्यवस्था कायम हो सकती है और बेहतर सामासिक संस्कृति की स्थापना हो सकती है इसकी संभावना बनती है। इस प्रक्रिया में संस्कृति प्रतिरोध की भाषा का सृजन करती है। इसलिए कहा जा सकता है कि “संस्कृति ऐसा क्षेत्र है जिसमें अपार संभावनाएं हैं। यह प्रतिरोध की नई भाषा का सृजन कर सकती है। यह आर्थिक और सांस्कृतिक भूमंडलीकरण और समरूप करने की प्रवृत्ति का प्रतिरोध कर सकती है। यह सांस्कृतिक संसाधनों, देसी ज्ञान का दोहन, सामूहिक मनोभाव का उभार, नवउदारवादी व्यवस्था में साम्राज्यवाद के खतरे की अभिव्यक्ति और अमरीकीकरण के वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष के लिए सांस्कृतिक संकेत विकसित करने के समान है।”...“सांस्कृतिक संकेतों को पुनर्परिभाषित किया जा सकता है और आर्थिक व सांस्कृतिक भूमंडलीकरण की वर्तमान





रिवायतों के खिलाप संघर्ष किया जा सकता है।...संचार के नए साधन संवाद की पहुंच बढ़ाकर स्थानीय समुदायों, स्थानीय संस्कृतियों और अल्पसंख्यक समुदायों को भी सशक्त बनाते हैं। नए दूरसंचार संपर्कों यथा विडियो-मीटिंग्स, टेली डिस्कसंस आदि के माध्यम से वैश्विक पहुंच के कारण उनके सांस्कृतिक और भावनात्मक संबंध मजबूत होते हैं। इस प्रकार के सशक्तिकरण के प्रभाव के अलावा स्थानीय समुदाय और संस्कृतियां भी नए संचार माध्यम द्वारा अपनी सांस्कृतिक पहचान और प्रतिरोध क्षमता को दृढ़तापूर्वक व्यक्त करने के लिए प्रेरित होती है। इससे उन्हें अनुकूलनीय व्यवस्था के माध्यम से अपेक्षाकृत चुनिंदा रूप में सांस्कृतिक अर्थों और मूल्यों को समझकर अपनी पहचान बनाए रखने में मदद मिलती है।²¹ अर्थात् भूमंडलीकरण के दौर और संचार क्रांति के युग में सभी समुदाय और समाज अपनी अस्मिता व अस्तित्व के लिए संघर्षरत रहेगा और प्रतिरोध की क्षमता का भी सृजन करता रहेगा। इसमें भाषा और संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका होगी। क्योंकि सामाजिक इतिहास में जिन शब्दों का जितना ज्यादा और लगातार इस्तेमाल होता है उनमें उतनी ही धर और अर्थ गर्भत्व होता है। रचना में भाषा का गैर सामाजिक बोध

काल की कसौटी पर पर खारिज हो सकता है, लेकिन सामाजिक भाषा का रचना सौन्दर्य कभी नहीं मरता। शब्द की सार्थकता इसमें है कि जहां से वह आया है, जिस अंतरंगता के साथ वह अपने सामाजिक स्रोतों में से पफूटा है, उसी गहरे लगाव के साथ उनमें जाकर जुड़ जाता है। इस अर्थ में भाषा समाज और संस्कृति से संब(हो जाती है। इसलिए उससे पृथक कोई सृष्टि खड़ी करने में रचनाकार की बड़ाई नहीं है, बल्कि उसे द्विगुणित करने में उसकी कला का कालजयीपन विराजता है। इसलिए प्रतिरोध की संस्कृति के निर्माण में अस्मिता व अस्तित्व की चेतना और सौन्दर्य में भाषा और उसकी भाषिक संरचना जिस जीवन-संघर्ष और श्रमशीलता के बीच से निकल कर आई है और आएगी। उसमें भाषा और संस्कृति का सौन्दर्य हमेशा से निहित रहा है और रहेगा। निश्चित तौर पर दलित साहित्य जिस प्रतिरोध की संस्कृति की चेतना और आंदोलन की उपज है उसके सम्यक सौन्दर्यबोध में उसकी भाषा और संस्कृति का सौन्दर्य जीवन मूल्यों की निर्मिति में है। सम्यक दृष्टि और सम्यक वाणी की इस संस्कृति और साहित्य में सम्यक सौन्दर्य की, अनुभूति, भावना और संवेदना है।

संदर्भ :

1. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 31
2. वही, पृ. 16
3. वही, पृ. 13





4. वही, पृ.442
5. वही, पृ 441
6. वही, पृ. 424
7. न्गुगी वा थ्योगों, भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, हिन्दी अनुवाद:आनन्दस्वरूप वर्माद्ध सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ. 25–26
8. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, हिन्दी भाषा का समाजशास्त्रा, राधकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृ. 106
9. वही, पृ. 103
10. वही, पृ. 248
11. वही, पृ. 250
12. वही, पृ. 252
13. वही, पृ. 7
14. वही, पृ. 17
15. वही, पृ. 18
16. शिवदान सिंह चौहान, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 24
17. सूर्यप्रसाद दीक्षित, संचार भाषा हिन्दी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ. 36
18. अभिजीत पाठक, आधुनिकता, भूमंडलीकरण और अस्मिता, आकार बुक्स, दिल्ली, 2013, पृ. 62
19. वही, पृ. 62
20. वही, पृ. 64
21. वही, पृ. 68–69

संपर्क:
सहायक प्रोपफेसर
हिंदी विभाग
इ.गां.रा.जनजातीय विश्वविद्यालय
अमरकंटक, म.प्र.–484887
मो. 09868721972 / 09424895615